काव्यकला — ३

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

काव्य कण—३

चेतना

बाबूराम पालीवाल

राजकमल प्रकाशन दिल्ली

राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड दिल्ली द्वारा प्रकाशित
गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस दिल्ली से मुद्रित
मूल्य डेढ़ रुपया

आशीर्वाद

आयुष्मान् पंडित बाबूराम पालीवाल का यह तृतीय कविता-संग्रह हिन्दी-भाषी जनों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है। मुझे आज्ञा हुई है कि मैं इस पुस्तक में संगृहीत कविताओं के विषय में कुछ कहूँ। मेरे लिए यह एक कठिन काम है। बात यह है कि मैं 'भूमिका', 'दो शब्द', 'चार शब्द' आदि की प्रथा के विरुद्ध हूं। किसी भी लेखक की कृति के संबंध में, उसके प्रकाश में आने के पूर्व कुछ कहने लग जाना मुझे तो बड़ा अटपटा-सा लगता है। हाँ, भूमिका के रूप में यदि लेखक कुछ अपनी बात कहना चाहे तो अवश्य कहे। पर यह भूमिका लिखवाने की प्रथा मुझे रुचती नहीं। मैं इस प्रकार के कार्य को सदा अरुचिकर एवं अनावश्यक मानता रहा हूँ।

इस प्रकार की मेरी जो मान्यता है वह अपवादशून्य है, ऐसा मैं नहीं मानता। यदि कोई आलोचक किसी कवि की कविता पर कुछ गंभीर विवेचनात्मक निबन्ध लिखकर उसे उस कवि के काव्य-ग्रन्थ की भूमिका के रूप में छपाना चाहता है और कवि को वह स्वीकृत हो, तो मुझे इस प्रकार की भूमिकाओं या ऐसे उपोद्घातों से कोई वैर नहीं। इतना ही नहीं, मैं ऐसे प्रयत्नों का हृदय से स्वागत करूँगा। परन्तु मैं अपने को इस प्रकार के कार्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त मानता हूँ। मेरा यह कोई मिथ्या विनम्र भाव नहीं है। मुझे भगवान् ने अन्तर्दर्शन का पर्याप्त सामर्थ्य दिया है। मैं जो अपने भीतर दृष्टि डालता हूँ तो अपने को निरा कोरा पाता हूँ। मैं देखता हूँ कि मेरा साहित्यिक अध्ययन न कुछ के बराबर है।

मैं छन्दशास्त्र से नितान्त अनभिज्ञ हूं। काव्य-कौशल के प्रारंभिक सिद्धान्तों से मैं अवगत नहीं हूँ। जहाँ तक काव्य-साहित्य-आलोचना-शास्त्र का संबंध है, वहाँ तक मैं अपने को नितान्त अज्ञानी मानता हूँ। ऐसी अवस्था में मैं क्या भूमिका लिखूं ? भूमिका-लेखन लोगों ने जितना सरल कार्य समझ रखा है, उतना वह है नहीं।

मैंने जब अनातोले फ्राँस का 'थाया' (Thais) नामक उपन्यास ग्रन्थ पढ़ा तो मैं अचकचा कर रह गया। मानव स्वभाव एवं अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करने का इतना महान् सामर्थ्य एवं तत्कालीन सामाजिक जीवन स्थिति को उज्जीवित एवं प्रकटित कर सकने की इतनी महती क्षमता क्या अन्यत्र भी कहीं है, यों मैं सहसा अपने ही से पूछ बैठा। पर, बाद में जब मैंने 'थाया' के विषय में विज्ञों की आलोचना पढ़ी तो पता लगा कि विज्ञों के मतानुसार श्री अनातोले फ्रांस ने उस उपन्यास को लिखने में अपनी कलम तोड़ दी है। जब 'थाया' प्रकाशित हुई तो एक विद्वान् ने उसके सम्बन्ध में लिखते हुए कहा था कि 'थाया' की आलोचना लिखने का अधिकार फ्रान्स भर में केवल तीन विद्वानों को है—और वे तीनों विद्वान् पेरिस एकेडेमी (या पेरिस ज्ञान-शाला) के इतिहास एवं पुरातत्व विभागों के अध्यक्ष थे। इस बात को कहने का मेरा अभिप्राय यह है कि आलोचना लिखने का अधिकार प्राप्त कर सकना कोई सरल कार्य नहीं है। अतः भूमिका-लेखन के कार्य को चलताऊ काम मान लेना ठीक नहीं। मेरी अपनी यह बौद्धिक विशेषता है कि मैं अपने को विज्ञ आलोचक नहीं मानता।

और फिर, एक बात और भी है। इस पुस्तक के प्रणेता मेरे निकट के जन हैं। उनके विषय में मैं क्या कहूँ ? मैं उन्हें जानता हूँ।

वे सज्जन हैं, सत्परायण हैं, कर्मकुशल हैं, प्रामाणिक एवं पर-सेवा-रत हैं। यदि मैं उनके ग्रन्थ की प्रशंसा करूं तो लोग कह सकते हैं कि मैं पक्षपात कर रहा हूँ। यदि दोषदर्शन करता हूँ तो लोग कह सकते हैं कि यतः लेखक मेरे निकट के जन हैं अतः मैं दोष दिखलाकर बड़े भारी पक्षपात-राहित्य की ध्वजा फहराता हूँ। अतः समझ में नहीं आता कि मैं क्या करूं ?

बाबूराम जी पालीवाल की कविताओं के संबंध में कुछ विशेष न कहकर मैं केवल इतना ही कहूँगा कि वे मुझे अच्छी लगती हैं। इसका अर्थ यह है कि उनकी कविताओं में मुझे अनुभूति मिलती है। कविताएं सर्वथा दोषरहित हैं—यह मैं नहीं कहता। मेरे ही समान इन लेखक का शब्द-कोष लघु है। फिर भी मुझे ये कविताएं अच्छी लगीं। और, मेरा विश्वास है कि हिन्दी-भाषी जनों को ये कविताएं अच्छी लगेंगी। इनमें वह बौद्धिक उजबकपन नहीं है जो हमारे कुछ ऊंचे कवियों में दिखलाई दे जाता है। इनमें सरलता है, प्रसाद है, अनुभूति है—अतः हृदय स्पर्श करने का सामर्थ्य है।

मैं लेखक की उत्तरोत्तर प्रगति की आशा करता हूँ। मैं उनसे कहता हूं, अब तक जो लिखा वह ठीक है, पर, अब और क्या ? इतने से काम नहीं चलेगा। लेखक को अपनी भावी कृतियों में कुछ अनदेखी झाँकी उतारने का प्रयास करना चाहिए। उनमें बीजरूप में अलख झलक देख सकने का सामर्थ्य विद्यमान है। भगवान् उनका मंगल करें।

५ विंडसर प्लेस,
नई दिल्ली।
१६ जुलाई १६४६

माता-पिता के चरणों में

सूची

प्रेरणा !

मैं तो मूर्तिकार हूँ केवल,
प्राण प्रतिष्ठा तुम करती हो !

मैंने अपने भावुक मन में,
अपना लघु संसार बसाया;
तुमने अपनी स्वाँस स्वाँस से
उसमें प्राणों को सरसाया;
एक अचेतन का कर्ता मैं,
चेतनता तो तुम भरती हो !
मैं तो मूर्तिकार हूँ केवल,
प्राण प्रतिष्ठा तुम करती हो !

फूल बनाये मैंने उनमें,
रङ्ग तुम्हीं ने तो भर डाले;
सुन्दर किया असुन्दर को औ'
ये मृण्मय, सन्मय कर डाले;
जो था अशिव उसे शिव करके
जीवन-कल्मष तुम हरती हो !
मैं तो मूर्तिकार हूँ केवल,
प्राण प्रतिष्ठा तुम करती हो !

मैं कविता का स्रष्टा कब था,
यदि तुम से पहिचान न होती,
गाने को कुछ गीत न होते,
उनमें कोई तान न होती,
गीतों में यति-गति भर भर रस-
निर्झरिणी-सी तुम करती हो !
मैं तो मूर्तिकार हूँ केवल,
प्राण प्रतिष्ठा तुम करती हो !

तुम हो तो कवि के जीवन में
कविता, कविता में जीवन है;
जीवन में यदि तुम्हीं नहीं तो
कविता केवल शून्य रुदन है;
पर मेरे रोदन गायन में
सन्तत, अविरल तुम ढरती हो !
मैं तो मूर्तिकार हूँ केवल,
प्राण प्रतिष्ठा तुम करती हो !

प्राणों का फल पाया

आज तुम्हारी सुमधुर सुधि ने
फिर से तुम्हें समीप बुलाया !

सुरभित स्वांस तुम्हारी छू कर
अरुण कपोल हो गये मेरे,
प्राणों में अमृत बरसाते
वे मधुमय संगीत घनेरे,
नयनों में साकार थिरकती
मृदु मुसकान सलज कल्याणी,
कानों में कोकिल-कूजन सी
कूजी कलित तुम्हारी वाणी,
आज युगों के बाद प्राण !
तुमने अतीत का गीत सुनाया !
आज तुम्हारी सुमधुर सुधि ने
फिर से तुम्हें समीप बुलाया !

जब साकार कल्पना में तुम
प्राणों में आ बसीं हमारे,
टूट गए तब सहसा तड़-तड़
कुटिल काल के बन्धन सारे,
सब सामाजिक परिभाषायें
छिन्न-भिन्न हो गईं क्षणों में,
प्राण ! देखता हूं मैं तुमको
जग के सब चल-अचल कणों में,
आज तुम्हारा एक रूप, बनकर
अरूप, कण-कण में छाया !
आज तुम्हारी सुमधुर सुधि ने
फिर से तुम्हें समीप बुलाया !

मेरा ज्ञान तड़क कर बोला—
'मूरख, यह सब तेरा भ्रम है !'
किन्तु भावना ने दुलराकर कहा
'स्नेह का यही नियम है'
स्नेह न आधारित हो सकता
कभी पार्थिवी उपधानों पर;
भौतिकता से परे प्राण जब
अवलम्बित होता प्राणों पर,
प्रस्तर की प्रतिमा में तब
भक्तों ने निज भगवान बसाया !
आज तुम्हारी सुमधुर सुधि ने
फिर से तुम्हें समीप बुलाया !

प्राणों का फल पाया

मैंने अनुभव किया, अतीन्द्रिय
सरस परस इन्द्रिय सुख देता,
युग-युग का अतृप्त मन मेरा
आज तृप्ति, सुख का रस लेता!
तुम अनन्त रस की निर्झरिणी
जीवन और मरण से ऊपर,
अपनी आत्मा का पावन रस
मेरे प्राणों में देती भर!
प्राण! आज पावन वेला में
मैंने प्राणों का फल पाया,
आज, तुम्हारी सुमधुर सुधि ने
फिर से तुम्हें समीप बुलाया!

सुधा बरसाओ

घिरि आई फिर बदली काली !
पूरब से पुरवा उठ धाये
मेरे मन-रवि पर आ छाये,
सहसा ज्योति विलीन हो गई,
तम ने चतुर्दिशाएँ छा ली !
घिरि आई फिर बदली काली !

हे मेरे निष्ठुर मतवाले,
मत छाओ यों बन घन काले
घहराओ मत उमड़-घुमड़ कर,
करो न कोष रोष का खाली !
घिरि आई फिर बदली काली !

प्रत्युत, यहां सुधा बरसाओ,
मानस को शीतल कर जाओ,
विहँसित हो तब तुम में मेरी
इन्द्रधनुष बन छटा निराली !
आज घिरी फिर बदली काली !

आओ झूलूं तुम्हें झुलाऊं

आज भावना के झूले पर
आओ झूलूँ तुम्हें झुलाऊँ !

उस दिन तुम झूले को रूठीं
मैंने फिर भी नहीं झुलाया,
किन्तु आज सुधि के झूले पर
तुमको बरबस स्वयँ सजाया,
तुम भूलीं, वे दिन भी भूले,
भूले अपने साँझ सकारे,
एक एक करके नयनों में
चित्र भर रहे प्यारे-प्यारे,
अपने वे अतीत के मधुदिन
इस पावस की निशि में पाऊँ !
आज भावना के झूले पर
आओ झूलूँ तुम्हें झुलाऊँ !

सावन की यह तीज सलोनी
आई सहसा सुधि मँडराई,
नयनों में शत-शत सावन के
आज बरसते घन भर लाई,
बदला जीवन-चक्र, दिशा, गति
बदल गईं वे सारी बातें,
बदल गये हैं हम तुम दोनों
बदली नहीं किन्तु बरसातें,
इस रिमझिम रिमझिम के स्वर में
मधुर किंकिणी धुन सुन पाऊँ !
आज भावना के झूले पर
आओ झूलूँ तुम्हें झुलाऊँ !

तुम को लेकर एक पेंग में
छू लूँगा अम्बर के तारे;
और दूसरा पेंग बढ़ाकर
हो जावेंगे न्यारे न्यारे;
तुम तारों की बस्ती में बस
अपना अनुपम रूप दिखाना,
बहुत दूर ऊपर से मुझको
इंगित द्वारा पास बुलाना
पा करके संकेत दिव्य तब
मैं भी कुछ ऊँचा उठ जाऊँ !
आज भावना के झूले पर
आओ झूलूँ तुम्हें झुलाऊँ !

यह सच है मेरे अम्बर में
अब धूमिल से बादल छाये।
पर यह भी सच है कि दृगों में
तारे प्रतिपल रहे समाये,
वे तारे—जो उस दिन अपने
पावन प्रेम प्रतीक बने थे,
वे तारे—जिनकी छाया में
हम दोनों अनुराग सने थे,
उनमें आज तुम्हें पहुँचाकर
क्यों न पहुँचने को ललचाऊँ!
आज भावना के झूले पर
आओ झूलूँ तुम्हें झुलाऊँ।

दूर बनों में कहीं पपीहे ने
'पिय-पिय' की टेर लगाई,
दामिनि दमकी सघन घनों में
तव छबि यहाँ दृगों में छाई।
बिजली की तड़पन में मैंने
देखा आकुल प्राण तुम्हारे—
तड़प रहे हैं नभ में जैसे
मेरे विकल दृगों के तारे—
तड़पा करते तव प्रकाश को,
जिसको पा मैं बढ़ता जाऊँ!
आज भावना के झूले पर
आओ झूलूँ तुम्हें झुलाऊँ।

मेघ रहेंगे नहीं, नहीं नयनों में
सघन घटायें होंगी,
इनको आज बरस लेने दो,
कल तो नील छटायें होंगी।
तुम आकाश लोक से मेरा
भू पर पथ आलोकित करना,
अविचल चलता रहूँ निरन्तर
अन्तर में तुम साहस भरना,
चलते-चलते अचल बना मैं
तव आभा में स्वयं समाऊँ!
आज भावना के झूले पर
आओ झूलूँ तुम्हें झुलाऊँ।

पावस की सन्ध्या

पावस की सन्ध्या फिर फूली
गिरि पर, भू पर, तरु पल्लव पर,
मोहक तरुणाई फिर भूली।
पावस की सन्ध्या फिर फूली।

पीलाई-मिश्रित अरुणाई
पच्छिम से पूरब तक छाई,
वन में मुदित हुए चरवाहे,
विहगों ने नभ-चोटी छू ली।
पावस की सन्ध्या फिर फूली।

नभ, जल थल का रङ्ग सलोना
मानो बिखर पड़ा हो सोना
अपने चित्रों में भरने को
चित्रकार ने ले ली तूली।
पावस की सन्ध्या फिर फूली।

मेरे अन्तर में अनजाने
कितने नूतन और पुराने
भाव जगे, नयनों में सहसा
भर आई कोई सुधि भूली।
पावस की सन्ध्या फिर फूली।

मिले स्वर्णमय तार

बहिन तुम्हारी राखी के वे
मिले स्वर्णमय तार,
जिनके तार-तार में गुह कर
तुमने भेजा प्यार।

उसी प्यार के कच्चे धागे में
बँधकर यह भाई,
अपनी हार तुम्हारी जय पर
देता तुम्हें बधाई।

बँधा स्नेह के बन्धन में यह
भाई बहिन तुम्हारे,
सुख के दुख के अश्रु कणों से
सींच रहा दृग तारे।

धुले हुए दृग तारों में
सहसा कुछ छवियाँ छाईं,
जो राखी के तारों में
आकर के स्वयं समाईं।

जिस राखी में आज बसी है
युग-युग की पहिचान,
उस राखी का बहिन करूँगा
युग-युग तक सम्मान।

इसे करो स्वीकार

आज तुम्हारे जन्म दिवस का
मंगल मय त्योहार
बोलो क्या दूं बिटिया रानी
मैं तुमको उपहार।

मैं हूं एक अकिंचन मैंने
नहीं सम्पदा जानी
किन्तु स्नेह का धन लेकर
मैं सदा रहा अभिमानी।
साभिमान भाई के उर का
भेंट कर रहा प्यार
मेरी रानी जन्म दिवस पर
इसे करो स्वीकार।

है विश्वास मुझे तुम मेरी
पूर्ण करोगी आशा
बढ़ी चलो जीवन के पथ पर
यही एक अभिलाषा।

बात अब मैं क्या बताऊ

उन प्रतीक्षा के पलों की
बात अब मैं क्या बताऊँ ?

स्वयं आकर भी न जब तुम
दृगों में सौ बार आईं
प्राण वंशी के स्वरों में
रागिनी बनकर समाईं,
रागिनी का सा सिहरता
गात अब मैं क्या बताऊँ ?
उन प्रतीक्षा के पलों की
बात अब मैं क्या बताऊँ ?

जब कि आशा औ निराशा
खेलती हों लुक-छिपाई
दामिनी ज्यों दमक कर हो
मेघ-माला में समाई
उस समय के नयन की
बरसात अब मैं क्या बताऊँ ?
उन प्रतीक्षा के पलों की
बात अब मैं क्या बताऊँ ?

बात अब मैं क्या बताऊँ

जब किया अभिषेक मैंने
नयन के जल से तुम्हारा
आप ही तब धुल गया
मेरे हृदय का कलुष सारा।
स्वप्न-सर में ज्यों खिला
जल-जात अब मैं क्या बताऊँ ?
उन प्रतीक्षा के पलों की
बात अब मैं क्या बताऊँ ?

विरह के इन कुछ पलों ने
स्नेह को सुरभित किया है
और कवि की कल्पना ने
जन्म कविता को दिया है।
आज अपना ही दिवस औ
रात अब मैं क्या बताऊँ ?
उन प्रतीक्षा के पलों की
बात अब मैं क्या बताऊँ ?

आज दिवाली फिर आई है

आज दिवाली फिर आई है
तुम हो कोसों दूर सयानी !

लोगों ने नव दीप जगाये
मैंने तम में तुम्हें निहारा
कोटि कोटि करुणा से दृग भर
प्राणों का प्रिय अमृत वारा।
तुम हो दूर दृगों से, पर हो
अन्तर के नयनों के आगे
अन्धकार के मेरे ये क्षण
सहसा तव प्रकाश में भागे।
तम प्रकाश की आँख मिचोनी
भावुक मन की है नादानी !
आज दिवाली फिर आई है
तुम हो कोसों दूर सयानी !

आज दिवाली फिर आई है

नभ के वक्षस्थल पर हँसते
हैं ज्यों चमचम करते तारे
वसुधा के प्रांगण में भी तो
हँसते हैं ये दीपक सारे।
आज अवनि से अम्बर तक
जब हास भर रहा है कण कण में
जाने क्यों जगती का सारा
रुदन बसा है मेरे मन में।
लाख रोकने पर भी मेरे
भर आया नयनों में पानी!
आज दिवाली फिर आई है
तुम हो कोसों दूर सयानी!

कम्पित कर से तुमने भी तो
दीपक आज जगाया होगा
चेतनता की एक किरण से
तम को दूर भगाया होगा।
उस प्रकाश में तुमने उन्मन
डाली होगी चितवन बाँकी।
मेरा भावुक कवि दृग मीचे
तम में वही देखता झाँकी।
जिससे आज नवीन बन गई
फिर से अपनी व्यथा पुरानी!
आज दिवाली फिर आई है
तुम हो कोसों दूर सयानी!

जग की जगमग में भी तुमने
एक शून्य पर दृष्टि लगाये
अक्षत चन्दन धूप दीप सब
चढ़ा दिये होंगे मन भाये।
लखकर सुमुखि समर्पण पल को
टूटे होंगे बन्धन सारे
तुम वरदान ले रही होगी
मधुर मिलन का हाथ पसारे।
एक निमिष की यही कल्पना
बनी युगों की मिलन कहानी !
आज दिवाली फिर आई है
तुम हो कोसों दूर सयानी !

मेरी गहन अमा में भी तो
लो तुमने भर दी उजियाली
प्राण ! तुम्हारी मधु सुधि ही ने
उर में शत शत भरी दिवाली
आत्म-समर्पण की वेला में
मैं ही क्यों पीछे रह जाऊँ
देवि तुम्हारा पूजन करने
मन-मन्दिर में तुम्हें सजाऊँ।
दूरी कहाँ जहाँ मैं तुम में
ओ, तुम मुझ में हो कल्याणी !
आज दिवाली फिर आई है
फिर तुम मेरे निकट सयानी !

नये दीप से घर सजाओ सजाओ

नया युग, नई बात !
नूतन दिवस रात !
लेकर नये धान, नव साधनों से,
नई लक्ष्मी को मनाओ, मनाओ।
नये दीप से घर
सजाओ सजाओ !

भूलो विगत बात,
भूलो कठिन रात,
दीपक सजाकर, सरस स्नेह के फिर,
मनों से अमा को मिटाओ, मिटाओ।
नये दीप से घर
सजाओ, सजाओ !

चरण युग बढ़ा दो,
जगो, जग जगा दो,
लिये दीपमाला करोड़ों करों में,
नई ज्योति ज्वाला जगाओ, जगाओ।
नये दीप से घर
सजाओ, सजाओ !

मधुरिमा सरसा रहा है

दूर कोई गा रहा है

रात भर हम सो न पाये
दिवस बीते याद आये
आज सहसा इन दृगों में
चित्र वह मुसका रहा है,
पास आता जा रहा है।

याद आई वह कहानी
जो नहीं जग को सुनानी
जो कभी इतिहास बनता
स्वप्न बनता जा रहा है,
मधुरिमा सरसा रहा है।

सत्य से है मधुर सपना
है यहाँ पर कौन अपना
आज जब अपना हृदय ही
स्वप्न में सुख पा रहा है,
दूर कोई गा रहा है।
पास आता जा रहा है
मधुरिमा सरसा रहा है।

मत दीप धरो

धार पर अब मत दीप धरो
अपने शशि-आनन की आभा
दीपक में न भरो
धार पर अब मत दीप धरो।

उर-ज्वाला दीपक में भरके
मन के सुमन समर्पित करके
सजल नयन, कम्पित अधरों से
मत यों विनय करो
दृगों से झर-झर-झर न झरो।

धरा में यौवन-प्रवाह है
मधुर मिलन की अमर चाह है
सुमुखि, समर्पण की दुनियाँ में
बाधा से न डरो
सहज साहस से विजय वरो।
किन्तु धार से लड़ना सीखो
संघर्षों में अड़ना सीखो
कूद पड़ो अब बीचधार में
डूबो या कि तरो
धार पर, पर, मत दीप धरो।

याद तुम्हारी आ जाती है

सच कहता हूँ अब भी जब तब
याद तुम्हारी आ जाती है।

बीत चुके वे दिन बहार के,
रिक्त हो चुकी मधु से डाली,
मन मधुवन से कहाँ उड़ गई,
क्या जाने कोकिल मतवाली,
एक तरह का अब तो जाने,
कैसा सूनापन छाया है,
मानो सारी दुनिया भर में
एक साथ पतझर आया है,
फिर भी तवसुधि दूर कहीं से,
कोकिल कूक सुना जाती है!
सच कहता हूँ अब भी जब-तब
याद तुम्हारी आ जाती है!

याद तुम्हारी आ जाती है

अब तो जाने जैसे तैसे
कैसे जीवन बीत रहा है,
अपने में ही पल-पल जल-जल,
जीवन का रस रीत रहा है,
एक यंत्रवत् चलती रहती,
मेरे इस मानव की काया,
जिसके संचालन में दिन भर,
भूला रहता ममता माया,
अर्द्धरात्रि के सपनों में, पर
तेरी मुख छवि छा जाती है !
सच कहता हूँ अब भी जब तब
याद तुम्हारी आ जाती है !

जीवन में विश्वास नहीं है,
फिर भी तो जीता जाता हूँ,
जीवन-मदिरा में मादकता नहीं
किन्तु पीता आता हूँ,
यहाँ कर्म-पथ अब पहिले है,
पीछे है भावुकता रानी,
पथ दुर्गम है, मैं एकाकी,
फिर भी चलता हूँ कल्याणी,
पर इस पथ में मधु अतीत के
तव सुधि चित्र बना जाती है !
सच कहता हूँ अब भी जब तब,
याद तुम्हारी आ जाती है !

मेरे इस बीहड़ पथ से तुम,
अपनी सुरभि लुटा जाती हो,
मेरे मानस नभ में आकर
बिजली सी मुसका जाती हो,
अपनी परवशता पर जब मैं,
आँसू चार बहा लेता हूँ,
जग को जीवन मिल जाता है,
मैं मन को बहला लेता हूँ,
यों मेरी जीवन अभिलाषा
दुख में भी सुख पा जाती है!
सच कहता हूँ अब भी जब तब,
याद तुम्हारी आ जाती है!

तुम कहती हो मैं निर्मम हूँ
मैं कहता हूँ जग निर्मम है,
किन्तु हमारा दोनों का ही,
निर्मम कहना भ्रम ही भ्रम है,
एक नियति के इङ्गित पर ही,
हम तुम क्या सब दुनिया चलती,
छलना नाना रूप बना कर,
हमको तुमको सबको छलती,
छलना के नाना रूपों में,
अपनी बुद्धि हिरा जाती है!
सच कहता हूँ अब भी जब तब,
याद तुम्हारी आ जाती है!

याद तुम्हारी आ जाती है

बुद्धि हिराती, मन भरमाता
नयनों में आकुलता छाती,
सौ-सौ सुमुखि तुम्हारी छवियाँ
विकल दृगों में भर भर जातीं,
पीछे रह तुम कहतीं लौटो
आगे बढ़ कहतीं—बढ़ आओ,
दायें-बायें से कहती हो
राही हमको भूल न जाओ,
किंकर्तव्यविमूढ़ बना कर
तव छवि तनिक छका जाती है !
सच कहता हूँ अब भी जब-तब
याद तुम्हारी आ जाती है !

किन्तु नियति की एक प्रेरणा
मुझे खींच झटके से लेती,
मैं पथ पर आगे बढ़ जाता
तुम पीछे निर्मम कह देती,
मैं जीवन से रहित मार्ग पर
कुछ खोया सा चलता जाता,
अपने से ही आप उपेक्षित
जग से केवल कटुता पाता,
तब जग की निर्ममता में क्यों
तेरी सुधि ममता लाती है !
सच कहता हूँ अब भी जब-तब
याद तुम्हारी आ जाती है !

मार्ग भिन्न हैं किन्तु एक है लक्ष्य
हमारा यह प्रिय जानो,
अपने अपने पथ पर चलने में ही
प्राण ! प्रेम पहिचानो,
दूर क्षितिज के पार वहाँ फिर
हम तुम दोनों मिल ही लेंगे,
सब अभिशाप यहाँ से लेकर
हम वरदान विश्व को देंगे,
शापों पर वरदान रश्मि-सी
सदा साधना मुसकाती है !
सच कहता हूँ अब भी जब-तब
याद तुम्हारी आ जाती है !

तुम कौन !

तुम कौन कहो नीले अम्बर से
अन्तर के पट रहीं खोल !
कवि के नयनों में भर प्रकाश,
प्राणों में अमृत रहीं घोल !
बन कर मादक स्वर लहरी सी,
कवि के कानों में गईं गूँज,
साकार स्वयं कविता बनकर,
कवि को देती हो नई सूझ !
तुम कौन कहो कवि की वाणी में,
भरती हो रस भरे बोल !
तुम कौन कहो नीले अम्बर से
अन्तर के पट रहीं खोल।

कवि के निर्जीव कलेवर से,
युग युग के छाये अन्धकार—
हट गये, और फट गये घने घन
मन पर छाये दुर्निवार !
नव जीवन पा फिर से कवि ने
यों छेड़ी अपनी मदिर तान,
जिससे वसुधा में सुधासिक्त
भर गया तुम्हारा अमृतदान !
तुम डोल उठीं कवि के अन्तर से
मदिर बात त्यों उठी डोल !
तुम कौन कहो नीले अम्बर से
अन्तर के पट रहीं खोल !

तुम रहो सदा, कवि रहे सदा
कवि को तुम दो नित नया दान,
कविता बनकर जो रहे रमा
जन-जन के मन-मन में निदान !
हे कल्याणी कवि की वाणी में
नित्य नई कविता लाओ,
कवि के प्राणों में करो वास,
कवि के नयनों में छा जाओ।
हे अन्तर्मय हे ज्योतिमयी,
इतना तो दे दो वर अमोल !
तुम कौन कहो नीले अम्बर से
अन्तर के पट रहीं खोल !

मधु की बात

आज मधु की बात !
प्राण में खोया हुआ सा
ज्यों पथिक पथ हीन
फिर कर देखता
गत वर्ष अपने
श्रान्त क्लांत मलीन
पाने दिव्य वह दर्शन तुम्हारा
वह वसन्ती गात !
प्रेयसि, आज मधु की बात !

और तुम मधु पूर्ण
विकसित ज्यों प्रफुल्ल सरोज
भर कर विकच अंगों में
न जाने प्राण कितना चोज
आई पुनः प्राणों में बसाने
वही नवल प्रभात !
रूपसि, आज मधु की बात !

इन क्षणों का मूल्य कोई
क्या सकेगा जान ?
भरते प्राण में जो हैं
हमारे प्राण चिर पहिचान
जिससे थिरकती है चपल पलकों
में रुपहली रात !
प्रेयसि, वही मधु की रात !
लाई आज मधु की बात !

अहं का गीत

नहीं चाहिये कृपा किसी की,
नहीं किसी का दान चाहिये !

वह तरु हूँ मैं जिसने केवल
ऊपर को उठना जाना है,
जो मधु ऋतु आने पर सब को
सौरभ देता मन माना है,
जिसकी सघन छाँह में आकर
थके बटोही बिरमा लेते,
अपनी सुख-दुख कथा सुनाकर
फिर अपने पथ पर चल देते,
जिसकी डाली पर आ चिड़ियां
प्रेम पूर्ण संगीत सुनातीं,
जिससे लिपट लतायें अपने
पात-पात से रस बरसातीं,
उसको नहीं किसी का रानी
कभी दया का गान चाहिये !
नहीं चाहिए कृपा किसी की
नहीं किसी का दान चाहिये !

चेतना।

अनल, पवन, जल, धरती में तो
जीवन रस पा ही लेता हूँ,
मुक्त गगन में यों तो अपने
मुक्त गीत गा ही लेता हूँ,
फिर भी हैं बन्धन प्रिय मुझको
शुद्ध स्नेह के हों यदि बन्धन,
जो न ऊर्ध्व गति रोके मेरी
क्योंकि नहीं झुकने का है प्रण,
झुकना नहीं सुहाता इससे
लतिकाओं को भी लिपटाकर,
ऊपर को ही ले जाता हूँ
उन्हें स्नेह से मैं दुलरा कर,
बिना स्नेह के मुझको मेरा
नहीं किसी से मान चाहिये!
नहीं चाहिये कृपा किसी की
नहीं किसी का दान चाहिये।

शासन करो तो !

प्राण मुझमें बल भरो तो !

देवि, मेरी अबलता पर
व्यंग से मत मुस्कराना,
और बल पर भी न उर में
तनिक आदर भाव लाना !
क्योंकि यह बल और दुर्बलता
सभी तुमने दिये हैं,
देख अपना रूप मुझमें
स्वयं को पहिचान जाना !
जानकर मम स्वस्थ मानस
पर सबल शासन करो तो !
प्राण मुझमें बल भरो तो !

यह नहीं अपने अहं से
आज मैंने मुक्ति पाई,
किन्तु उसकी मूर्ति तो तुममें
मुझे देती दिखाई !
स्नेह देकर प्राण क्यों
मेरा अहं निज में बसाया ?
और मेरी हार तुम में
विजय बनकर क्यों समाई ?
आज अपनी विजय मेरी
हार का संभ्रम हरो तो !
प्राण, मुझमें बल भरो तो !

सुमुखि उन दुर्बल क्षणों का
स्मरण कर यह कवि हमारा,
भावना के सिन्धु में है
डूबता-तिरता बिचारा !
कल्पना की तरी ले
मँझधार में तो कूद आया,
किन्तु सुधि के एक तिनके
का मिला उसको सहारा !
आज अपने स्नेह-सम्बल
से पुनः तारो-तरो तो !
प्राण, मुझमें बल भरो तो !

शासन करो तो

पाप की औ' पुण्य की
सीमा न अब तक जान पाया,
जो कभी था पुण्य, बन कर
पाप वह दृग में समाया,
आज का यह पाप, कल का
पुण्य भी क्या बन सकेगा ?
क्या कहूं इस द्वन्द्व ने क्यों
हृदय में डेरा जमाया !
आज मेरे पाप में निज
पुण्य का कुछ फल भरो तो !
प्राण मुझनें बल भरो तो !

पाप की औ' पुण्य की
सीमा अगर हम लाँघ जाते,
तो न बन्धन विश्व के
हमको तनिक भी बाँध पाते,
मुक्त पंछो से विहरते
मुक्त नीलाकाश में हम,
प्राण में मेरे, तुम्हारे
प्राण यदि आकर समाते !
आज अपने प्राण का रस
प्राण में अविरल भरो तो !
प्राण, मुझमें बल भरो तो !

जीवन-पथ

जीवन-पथ के चौराहे पर
आज अचानक मिली प्राण तुम !

चलते रहने का क्रम सहसा
रुक ही गया एक पल को तो,
गर्वोन्नत कर्तव्य भाल मम
झुक ही गया एक पल को तो,
आज भावना हुई विजयिनी
हार गया कर्तव्य बिचारा,
मग में पग डग मग डगमग से
तन मन मेरा हारा हारा,
हार-जीत से ऊपर उठकर
आज अचानक मिली प्राण तुम !
जीवन पथ के चौराहे पर
आज अचानक मिली प्राण तुम !

नमित नयन से कर प्रणाम
आशिष को ज्योंही पलक उठाये,
छूकर प्राण नयन से तुमने
मेरे प्राण पुनः उकसाये,
नयनों ही नयनों से अपनी
मर्म-कथा सारी कह डाली,
मुझको मेरी राह दिखाकर
तुमने अपनी राह सम्हाली
मैं तो लखता रहा पलक भर
आज अचानक मिलीं प्राण तुम!
जीवन पथ के चौराहे पर,
आज अचानक मिलीं प्राण तुम!

अपने पथ पर चली गईं तुम
मेरा पथ आलोकित करके,
मेरी सुप्त कल्पना में, जीवन के
नव नव सपने भरके,
फिर कर्तव्य ज्ञान ने मेरे
आज भावना से गति पाई,
मेरी वह धुँधली सी मंजिल
देती अब प्रत्यक्ष दिखाई
एक ज्योति रेखा सी सुन्दर
आज अचानक मिलीं प्राण तुम!
जीवन पथ के चौराहे पर,
आज अचानक मिलीं प्राण तुम!

एक निमिष का मधुर मिलन यह
युग-युग का वरदान बन गया,
और मूक सन्देश तुम्हारा
मेरे कवि का गान बन गया,
झंकृत तार-तार वीणा के
मुखरित फिर से कवि की वाणी,
पथ प्रशस्त करती रहना तुम
कभी कभी यों ही कल्याणी,
पुलक प्रकाश पूर्ण प्रिय अंतर
आज अचानक मिलीं प्राण तुम !
जीवन पथ के चौराहे पर,
आज अचानक मिलीं प्राण तुम !

सुख की ज्योति

मेरे दुख के अन्धकार में
सुख की ज्योति छिपी रहती है !

जब जब मेरे मानस पर
शंका की सघन घटा घिर आई
तब तब हिय के अंतराल में
समाधान सी सुधि मुसकाई,
एक ज्योति पावन प्रकाश की
भर जाती प्राणों में मेरे,
मेरी जड़ता चेतन होती
केवल एक स्मरण से तेरे,
अपनी सुख-दुख-कथा सघन
घन से मानो दामिनि कहती है !
मेरे दुख के अंधकार में
सुख की ज्योति छिपी रहती है !

जब संयम का बाँध तोड़ कर
नयनों से उमड़ी जल धारा,
तभी सुपरिचित स्वर ने आ
अज्ञात दिशा से मुझे पुकारा,
ज्यों वर्षा के बाद गगन में
इन्द्र धनुष की छवि छहराती,
त्यों मेरे अन्तर में सचमुच
प्राण तुम्हारी छवि मुसकाती,
चिर वियोग के दावानल में
सुधि की सरस सुधा बहती है!
मेरे दुख के अन्धकार में
सुख की ज्योति छिपी रहती है!

मेरी गहन तमिस्रा में भी
मुझको प्रेम प्रदीप तुम्हारा,
पथ का ज्ञान करा ही देता
चमका करता ज्यों ध्रुव तारा,
तारे पर हैं लगे हुए दृग
पग अपने ही आप चल रहे,
मंजिल नहीं मिलेगी कैसे
जब कि साधना दीप जल रहे?
मेरी सत्य साधना भी तो
सपनों की छवि को सहती है!
मेरे दुख के अंधकार में
सुख की ज्योति छिपी रहती है!

सत्य स्वप्न का लिये सहारा
मैं अविराम चला जाता हूँ,
दुख के, सुख के, अनुभव करता
जीवन में रोता, गाता हूँ,
उठ न सका दुख सुख से ऊपर
चाहे इसे कहो दुर्बलता,
मेरे तो जीवन का सम्बल
है मेरे मानव की ममता,
ओ मेरी ममता तो तेरे
सत्य स्नेह का पथ गहती है !
मेरे दुख के अन्धकार में
सुख की ज्योति छिपी रहती है !

जठ की दोपहरी

यह भरे जेठ की दोपहरी !

ऊपर चढ़ चीलें चिल्लातीं,
नीचे गिर कलियाँ मुरझातीं,
बस अर्क जवासों के झुरमुट में
हरियाली आकर छहरी !
यह भरे जेठ की दोपहरी !

लू की लपटों में नंगे तन
भिखमङ्गी बुढ़िया उन्मन मन—
तरु के नीचे उस प्याऊ पर
पानी पीने पल को ठहरी !
यह भरे जेठ की दोपहरी !

खस की टट्टी का बना स्वर्ग
महलों के भीतर धनिक वर्ग—
शरबत पी लेता रह-रह कर,
पर मिटती है न तृषा गहरी !
यह भरे जेठ की दोपहरी !

मैं दूर अकेला खड़ा यहाँ,
हूं दृष्टि फेंकता जहाँ-जहाँ,
लखता हूँ वहीं विषमता में
समता का चिर चेतन प्रहरी !
यह भरे जेठ की दोपहरी !

उद्‌गार

मोह माया त्याग रे कवि !

आज वह आत्मज, कि जिसकी
एक छाया के सहारे—
किले कितने ही बनाये
कल्पना के नित्य न्यारे,
स्वप्न-गढ़ को तोड़ कर
सुख स्वर्ग लेकर आज मेरा
त्याग तन को चल दिया
जाने कहाँ करने बसेरा,
स्वप्न टूटा, सत्य कड़वा
देख रे ! अब जाग रे कवि !
मोह माया त्याग रे कवि !

मैं मनुज हूं अति अबल हूं
और है पितृत्व मुझमें,
किंतु मेरे कवि सबल बन
क्या नहीं कृतृत्व तुझमें?
कर्म पथ पर तू अडिग बन
रस-विरस से तनिक ऊपर—
उठा मुझको, बीतरागी-
सा बना कर चला भू पर!
हृदय में भर कर चिरन्तन का
नवीन पराग रे कवि!
मोह माया त्याग रे कवि!

मोह की मेरी निशा में
ज्ञान का आलोक भर दो
ज्योति तुमसे ले जगत् को
दे सकूँ इस योग्य कर दो,
और ठहरो, मैं पिता हूँ
पुत्र को तो प्यार कर लूँ
बस गया जो विश्व में उस
तात को तो अङ्क भर लूँ,
छोड़ सीमा, आज भर
निःसीम का अनुराग रे कवि!
मोह माया त्याग रे कवि!

जीवन की ही विजय रहेगी

युग-युग से मैं देख रहा हूँ
मृत्यु भयंकर मुँह फैलाये
कभी महामारी बन करके
रण बन करके कभी, कभी फिर
बनकर कोई नया बहाना
जीवन को समाप्त करने को
उसे निगल जाने को
जाने क्यों, असफल प्रयास करती है ?
किन्तु पराजित होकर प्रतिपल
जीवन की चिर सत्य सौम्यता
मृत्यु मृत्यु की कथा बताकर
हमसे सौ-सौ बार कहेगी !
जीवन की ही विजय रहेगी !

सृजन शक्ति से बोलो कब तक
तुम विनाश यों लड़ पाओगे ?
बनते यहाँ अनेक एक से
एक मरेगा सौ जन्मेंगे।
जीवन में विश्वास अडिग—
रखने वाला मैं
तुम्हें चुनौती आज दे रहा,
मेरे एक प्राण को लेकर—
क्या तुम मुझ पर विजयी होगे ?
सृजन-शक्ति में भक्ति यहाँ है
नहीं मृत्यु से डरने वाला
छाती खोल खड़ा हूं आगे
मैं जीवन में गति भरता हूं
मृत्यु स्वयं ही आप मरेगी !
जीवन की ही विजय रहेगी !

चिरंतन सत्य

आज क्षुब्ध वसुधा !
विक्षुब्ध सभी नारी नर !
शोक मग्न उगते ये अंकुर प्रकृति के –
मानो प्रातःकाल में ही
कुहासे ने
बालारुण रवि को
किया हो आच्छादित तम-तोम से
सूर्य अरुणोन्मुख है,
काँप रहा पीत-भीत
पीली-पीली सरसों में
चमक पुरानी नहीं !
और ऐसा लगता है
मानो तरुणाई कुछ
सहमी-सी भीताकुल
पीली पड़ी जाती हो !

आज यह मधु-दिन विगत दिनों की याद,
लेकर आगया है, किन्तु
लाया नहीं मोद वह
जो कि समाविष्ट हुआ भूत-काल-गर्भ में !
अब तक कण-कण में छवि देखता तुम्हारी था
किन्तु ऐसा लगता है मानो व्याप्त कर दिया है
मैंने निज को सभी में, तुम में भी !
और अपना ही प्रतिरूप देखता
सभी में हूं !

भय लगता है मुझे आज अपने से ही
तुम से भी आज मुझे डर ही तो लगता है !
और लगता है भयातुर हो मानव से
प्रकृति आज देखो स्वयं पीली पड़ी जाती है।
क्या हम मानव से दानव बन गये हैं आज?—
मूलतः मानव क्या हिंसक ही होता है ?—
प्रश्न यह आज मेरे मन में घुमड़ते से हैं,
उत्तर नहीं है कुछ
प्रकृति आज मौन है !
औ' मानवता विकल व्याकुल !

किन्तु सत्य स्नेह की जो तुमने बहाई कभी
धारा वह आज भी हमारा भय धोती है !
औ' प्रकृति के अन्तर से झाँकती तुम्हारी छवि
कोकिल के कूजन मिस प्रेम रस घोलती सी
बोलती है—
मानव का हिंसक चिरन्तन नहीं है
किन्तु सत्य तो है मानव की ममता
मानव का स्नेह
और देखता हूँ फूल रही वल्लरी है !
विटप से लिपटी हुई !

अहं का गीत

मत बनो अभिमानिनी यों !
कुचल करके अहं मेरा
निज अहं की तुष्टि पाई
मानिनी क्या इसी में
तुमने विजय अपनी मनाई,
मान रखती तनिक मेरा
तो विजय होती तुम्हारी
हार कर भी जीतती तुम
स्नेह की मनुहार सारी,
स्नेह का ले कोष मेरा
बन न जाती दानिनी क्यों !
मत बनो अभिमानिनी यों !

अहं का गीत

स्नेह की स्वीकृति बिना
किसने कहाँ संतोष पाया ?
प्राप्ति के दो शब्द ही में
तो अहं आकर समाया,
किन्तु पाया है उसे क्या
तुम कभी लौटा सकोगी
प्राप्ति का फिर गीत बोलो
क्यों नहीं तुम गा सकोगी ?
हृदय-वीणा पर बजाती
हो न स्वीकृति रागिनी क्यों !
मत बनो अभिमानिनी यों !

है अहं मेरा सजग, मैं
दे रहा हूँ बिना पाये
औ' नहीं मैंने कभी हैं
स्वार्थ के प्रिय गीत गाये,
स्वार्थ से उठ बहुत ऊंचे
गूँजते हैं गीत मेरे
दे रहे हैं विश्व को जो
स्नेह के संदेश तेरे,
गति भरो संदेश में
हो स्नेह की अधिकारिणी ज्यों !
मत बनो अभिमानिनी यों !

दिवाली

जगमग जगमग जगी दिवाली
नगर नगर नव ज्योति जगाये
प्रिय पावन प्रकाश छा जाये
यह अज्ञान अमा अब डूबे
विहँसे ज्ञानमयी उजियाली
जगमग जगमग जगी दिवाली !

आज विश्व का कोना-कोना
चमके ज्यों सुमेरु का सोना
अंधकार को चीर खिल रही हो
जिस पर ऊषा की लाली
जगमग जगमग जगी दिवाली !

तुम भी चमको नव प्रकाश में
विकसित हो तुम नव विकास में
मेरा स्नेह करेगा ज्योतित युग-
युग तक तव दीपक आली
जगमग जगमग जगी दिवाली !

आज चांदनी रात

आज चाँदनी रात तुम्हारी—
सुधि निर्मल गंगा की धारा,
एक त्रिवेणी बही, जिसमें बहा
मम हिय का कल्मश सारा !
देखा जी भर अपलक दृग से
मैंने इस अभिराम छटा को,
पाया त्योंही अपने मन से
हटती सी अवसाद घटा को !

मुख मंडल पर दुग्ध धवल
चाँदनी रात सी स्मिति की रेखा,
फेनोज्ज्वल झिलमिल सी
गंगा की लहरों में देखा !
देखा सोम रश्मि के रथ पर
मैंने तुमको भू पर आते,
देखा नभ से भू तक तुम को
अपना सुख सौन्दर्य लुटाते !
देखा हास बिखेर दिया है
तुमने अपना जो कण कण में,
उसको दृग में आज संजोकर
फूला नहीं समाता मन में !
आज चाँदनी रात तुम्हारी—
सुधि निर्मल गंगा की धारा !
तीनों को बन्दी रक्खेगी
युग युग तक मम दृग की कारा !

कौन जान पायेगा ?

कौन जान पायेगा मुझको
मेरे प्यार भरे गीतों को !
तुमने अपने अहंकार में
अपने में अपने को माना,
मैंने सरल सनेह लुटा कर
तुममें निखिल विश्व को जाना,
तुम सीमित रह गईं स्वयं तक
मैं जग को लखता था तुम में,
यह अद्वैत द्वैत का झगड़ा
पड़ता है मुझको सुलझाना,
सुलझानी पड़ती है उलझन
इन मनुहार भरे गीतों को !
कौन जान पायेगा मुझको
मेरे प्यार भरे गीतों को !

सुलझाता हूं एक गाँठ तो,
तुरत दूसरी पड़ जाती है;
मेरे भोले भावुक मन की
पीड़ा दूनी बढ़ जाती है,
सहलायेगा जग क्यों पीड़ा
गाँठ बाँध देते जब अपने,
अपनों को अपनाने में ही
गाँठ हृदय में गड़ जाती है,
आज सँजो पीड़ा अन्तर में
गाता हार-भरे गीतों को !
कौन जान पायेगा मुझको
मेरे प्यार भरे गीतों को !

अपनी हार मान कर मैंने
गीत तुम्हारी जय के गाये,
फिर भी ममता के दो मधुकण
मैंने कभी न तुमसे पाये,
निखिल विश्वका आदर पाकर
मेरे गीत नहीं गूंजेंगे,
यदि सनेह से सही अर्थ में
तुमसे वे न गये दुलराये,
शाश्वत स्नेह-सुधा से सींचो
प्राण ! पुकार भरे गीतों को !
तभी जान पाओगी मुझको
मेरे प्यार भरे गीतों को !